अपनी पीड़ाओं की जांच तो करें

वह अभी युवा हैं। पत्रकारिता में कोई दस वर्ष होने जा रहे हैं। दो बड़े समाचारपत्रों से सबंद्ध रहे हैं। काम में दक्ष और नवाचारी हैं इसीलिए चुनाव हो या सिंहस्थ या इसी तरह का कोई बड़ा, महत्वपूर्ण अवसर, उन्हें बुलाया जाता है, उस प्रसंग में बेहतर काम के लिए। पिछले दो वर्षों से वे जब भी मिलते हैं, एक ही बात कहते हैं। अब मन नहीं लगता। संघर्ष और तनाव बढ़ता जा रहा है। मन में थकान और अवसाद की भी स्थिति अनुभव होने लगी है। सोचता हूं, अब पत्रकारिता को छोड़कर कुछ अन्य काम की तलाश करुं। वे इंदौर के हैं। पहले सबसे अधिक बिकने वाले समाचारपत्र में थे, लम्बे समय तक और अब उससे कम बिकने वाले समाचारपत्र में हैं। पर वे अकेले ऐसे नहीं हैं। लगभग सभी बड़े समाचार पत्रों में सृजनात्मक और ध्येय तथा मूल्य आधारित पत्रकारिता करने की इच्छा रखने वाले बहुतेक युवा और पौढ़ पत्रकारों की यही स्थिति है। ऐसी घुटन अन्य पत्रकार भा अनुभव करते हैं, पर उन्होंने कुछ समझौते कर लिए हैं, स्थितियों से, मूल्यों से, संघर्ष से। उन्होंने अब अपने को स्थितियों के प्रवाह में छोड़ दिया है। वे अपने को कुछ अधिक सहज और सुविधाओं के वातावरण तथा स्थितियों में पाकर संतोष का दिखावा करते हैं। परतें उघड़ते ही वे भी इसी तरह के दर्द को स्वीकार करते हैं पर, मानते हैं, इसका कोई विकल्प नहीं बचा है।

यह चित्र सच है। इसे पत्रकारिता से जुड़ा हर व्यक्ति जानता है। वे भी जो पक्ष में हैं और एक मायने में इस सबके लिए उत्तरदायी हैं। इसके लिए उनके अपने व्यावसायिक तर्क हैं। वे इसे अन्य व्यवसायों को देखते–बताते हुए अपना सच स्थापित करने की कोशिश भी करते हैं। एक अर्थ में इन स्थितियों को वैध ठहराने की ही यह कोशिश होती है। पर सोचें, अपना जीवन, सुविधायें, सम्पत्ति दाव पर लगाने, जोखिम उठाकर समाज को बेहतर, विकसित, सुखी और आजाद देखने के स्वप्न से प्रारंभ हुई पत्रकारिता की इस वृत्ति में ऐसा परिवर्तन कैसे हो गया है। क्या सचमुच ही यह साबुन, पेस्ट, क्रीम, कपड़ा, जूता जैसे उत्पादों की तरह खवर भी जीवन में उपभोग की वस्तु हो गई है। यानि लोग अब खबर और विचार को भी इन्हीं अर्थों में बेचते हुए इसका अन्य व्यवसायों की तरह ही व्यापार कर रहे हैं। यदि हां, तो क्या जानकारियां, खबर, विचार अन्य उत्पादों की तरह ही उपभोगी 'वस्तु' ही है। यह उपभोगी वस्तु कैसे बन गई या बना दी गई, इसे समझना होगा।

आजादी के बाद यानी 47-48 के बाद जो समाचारपत्र प्रारंभ हुए उनका मकसद वह नहीं था जो आजादी के संघर्ष के साथी रहे पत्रों का था। वे सरकार के करीब जाने और उनसे जुड़कर अपना व्यवसाय करने की मंशा वाले थे। उनके सामाजिक सरोकार भी सरकार की नजर के साथ जुड़े थे। पर सम्पादक की गरिमा तब तक थी और वह प्रबंधकीय दायित्व से प्राय: मुक्त थे। यह क्रम धीमी गति से कम होते 60-70 तक तो बना रहा। 60-70 के दशक में और उसके बाद अंग्रेजी समाचार पत्रों का प्रसार कम होता गया और भारतीय भाषाओं के पत्रों का प्रसार तेजी से बढ़ता गया। इसका परिणाम अखबारों के व्यवसाय पर पडा और उनकी आर्थिक स्थिति काफी मजबूत होती चली गई। यही वह समय था जब पत्रकारिता में एक तरफ कैरियर की मानसिकता के साथ नये लोगों ने प्रवेश किया। इसी के साथ प्रबंधकों का अब सम्पादकीय सामग्री में अधिक हस्तक्षेप होने लगा था। धीरे-धीरे प्रबंधक, सम्पादक भी होने लगे। उनमें व्यवसायी दृष्टिकोण गहरा होता गया और वे अब बाजार, राजनीति और प्रशासन से अपना गठजोड़ करने लगे। इसके लिए उन्हें पत्रकारों का भी साथ चाहिये था, वह भी मिलता गया। कैसे मिला यह कुछ विस्तार की बात होगी पर इसे लगभग सभी जानते हैं। 70-80 से 2000 तक का समय इसी तरह के बदलाव का रहा है। आजीविका तथा कैरियर केन्द्रित लोग बढ़ते गये, उनका लक्ष्य पहले के लक्ष्य से बदलता गया। प्रबंधकों के लक्ष्य के साथ उनका दृष्टिकोण जुड़ता गया। यानि एक मायने में पत्रकार कैरियर, आजीविका, सुविधायें, सुरक्षा तथा रुतबे के साथ समाज सेवा के इस माध्यम में अपना कौशल और क्षमता बता रहे थे। प्रबंधक उसे आजीविका, कैरियर और अधिक वेतन देते हुए पत्रकारिता को व्यवसाय के रुप में पक्का करते हुए, मीडिया की ताकत में निहित आगामी संभावनाओं को देखने लगे थे। 60 से 75-80 तक पत्रकार अपने आप को कामगार के रुप में मान लेने और तत्संबंधी सुरक्षा, सुविधा, वेतन आदि को अपना केन्द्रित लक्ष्य बनाकर आंदोलित करते रहे और बहुतकर सफल भी हुए। पर यह सब होने में वह क्या हार रहे थे, उसका न तो उन्हें पता चला और न ही उन्होंने इस सब की परवाह की। यह एक बडे बदलाव और स्थानांतरण का समय था, जिसमें उन्होंने अपना ही सहयोग दिया।

इसके बाद, यानी 2000 के बाद की पत्रकारिता तथा मीडिया के बारे में जवाहरलाल कौल का अध्ययन, पी. साईनाथ का अध्ययन तथा प्रभाष जोशी, अजीत भट्टाचार्य, एन. के. सिंह आदि अनेक पत्रकारों, अध्येताओं के कथन या निष्कर्ष मौजूद हैं। यानि 80 के बाद मीडिया के कंटेंट पर

पत्रकारों का वर्चस्व कम होता गया था। पत्रकार इस वारे में कभी- कभी कह भी देते थे पर वह उनके स्वाभिमान का हिस्सा नहीं बन पाया और न ही अब है। अखबार और बाद में कुछ समय तक टीवी जिनके कारण से जाने जाते थे, वे अब प्रबंधन का हिस्सा बन चुके थे। यह मुद्दा संगोष्ठियों में उठता रहा, पर इससे झुकी गर्दन और रीढ़ को तान लेने का जोखिम किसी ने नहीं उठाई।

इस सबका मिला जुला परिणाम है कि आज मीडिया के सम्पादकीय से जुड़े लोगों से विपणन तथा कारखाने में काम करने वालों की तरह ही काम कराया जाने लगा है। उनके काम को गुणात्मकता के बजाय परिमाण से नापा जाने लगा है। पुलिस की तरह लगातार काम करते हुए उनसे सृजनात्मकता की अपेक्षा की जाने लगी है। उनके हाथों ही नहीं दिमाग को भी मशीन या कम्प्यूटर की तरह चलाने की स्पर्धा उनके बीच ही की जा रही है। असुरक्षा, अस्थिरता, स्पर्धा तथा काम के दबाब ने पिछले एक दशक से अधिक समय में युवा और पौढ़ पत्रकारों को हताशा, अवसाद, मनो-शारीरिक रुग्णता आदि का शिकार बनाया है। अब ऐसे व्यक्ति से जिसका ध्येय और मूल्य दो दशक पहले ही बदल या भटक गये हों, और जो अपने को बचाये रखने की जद्दोजहद में हो, उससे मानवीय मूल्यों, सामाजिक सरोकारों की बात करना सिर्फ रस्म अदायगी ही तो होगी। उसमें वह तल्खी, जुनून, निष्ठा ध्येय-परकता की पौरी और पूरी आशा करना कुछ हद तक जल्दबाजी ही होगी। एक बार इस पूरे बदलाव को पत्रकारिता के मूल्यों और निष्ठा तथा लक्ष्य के संदर्भ में विवेचन करना आज के समय और इन आसन्न पीड़ाओं को समझने लिए बहुत आवश्यक है।

० ० ०